IJAER/ Jan-Feb 2023/Volume-12/Issue-1 ISSN: 2278-9677
International Journal of Arts & Education Research

परिवर्तन का संवाहक हिंदी सिनेमा

डॉ बबीता काजल

सह-आचार्य (हिंदी विभाग)

चौ बल्लूराम गोदारा राजकीय कन्या महाविद्यालय श्रीगंगानगर- 335001

राजस्थान

शोध सारांश

समाज ,संस्कृति, कला, मनोरंजन की दृष्टि से हिंदी सिनेमा सदैव समाज के लिए महत्वपूर्ण रहा है ।सिनेमा और समाज का सम्बन्ध परस्पर गहरा व्यापक और सूक्ष्म भी है ।राजा हरिश्चंद्र से प्रारम्भ हुए हिंदी सिनेमा ने कई पड़ाव पार किए है, इसी प्रकार समाज भी युगों की करवट को सहन करके परिवर्तन के दौर से गुजरता रहा है । धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, देशभक्ति और सामाजिक फिल्मों के साथ साथ जैसे विषय परिवर्तन हुए वैसे समाज भी अनेक परिवर्तनों से गुजरा इसके बाद रोमांटिक सिनेमा, व्यावसायिक, सार्थक ,समानांतर ,प्रयोगवादी सिनेमा की लहर के साथ सिनेमा रील और रियल लाइफ के मध्य अंतर को कम करता रहा । समाज की विकृतियों व समस्याओं का यथार्थवादी चित्रण जीवन्त ढंग से किया जाने लगा । हिंदी के अतिरिक्त अन्य अनेक भारतीय भाषाओं का सिनेमा भी अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम सिद्ध हुआ है।अब सिनेमा ना केवल समानांतर और ग्रे हुआ है, बल्कि ग्लोबल होकर भारतीय सिनेमा अंतरराष्ट्रीय मंच पर अपनी पहचान स्थापित कर रहा है। नई सोच, नई पौध, नए प्रयोग और नई तकनीक सिनेमा को भविष्य में नए आसमान तक लेकर जाएगी, इसमें कोई संदेह नहीं है

मुख्य शब्द -समाज ,संस्कृति,सिनेमा ,साहित्य ,सम्प्रेषण ,सार्थक,समानांतर व्यावसायिकता ,मनोरंजन ,यथार्थवादी,विकृतियाँ ,समस्याएं ,डिजिटल,घूसखोरी , पश्चिमी दृष्टि ,समाधान , रचनात्मकता,आधुनिकता स्थानीयता

परिचय -

प्राचीन समय से ले कर आज तक हिंदी सिनेमा भारतीय समाज का महत्वपूर्ण अंग रहा है । ना केवल मनोरंजन की दृष्टि से वरन समाज की विचारधारा ,संस्कृति, संस्कार ,कला को भी सिनेमा ने बहुत प्रभावित किया है । 21 वीं सदी के संप्रेषण के तमाम माध्यमों में सिनेमा सबसे सशक्त माध्यम है। इस विचार से सभी सहमत होंगे। 100 साल से भी पुराना, यह विश्व का सबसे प्रभावशाली माध्यम सिद्ध हो रहा है। सिनेमा न केवल कला और उद्योग है, बल्कि साहित्य, सूचना, मनोरंजन और सपनों व महत्वकांक्षाओं का प्रतिरूप भी है। किसी भी देश में बनने वाली फ़िल्में वहाँ के समाजिक, सांस्कृतिक जीवन और रीति रिवाज का दर्पण होती है। भारतीय सिनेमा के 100 वर्षों के इतिहास में हम भारतीय समाज के विभिन्न चरणों का अक्स देख सकते हैं। 3 मई को भारत की पहली फीचर फ़िल्म 'राजा हरिश्चंद्र' का रुपहले पर्दे पर पदार्पण हुआ था। इस फ़िल्म के निर्माता भारतीय सिनेमा के जनक दादा साहब फाल्के थे। 100 वर्षों से भी अधिक की लंबी यात्रा में हिंदी सिनेमा ने न केवल बेशुमार कला प्रतिभाएं दी है, बल्कि भारतीय समाज और चरित्र को गढ़ने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। 3 मई 1913 को रिलीज हुई राजा हरिश्चंद्र को अगर आधार मानें तो आज हिंदी सिनेमा 110 वर्ष से भी अधिक पुराना हो चुका है। निस्संदेह पुराना होने के साथ साथ सयाना भी हुआ है। इसे सयाना बनाने का श्रेय एक लंबे इतिहास, परंपरा, परिश्रम और अथक प्रयासों को दिया जाना चाहिए। शुरुआती दौर में धार्मिक और प्रामाणिक फ़िल्में बनी और फिर ऐतिहासिक फ़िल्में बनाई जाने लगीं। आजादी के बाद देशभक्ति की फ़िल्में बनीं। उसके बाद सामाजिक विषयों पर फ़िल्में बनाने का दौर आया। दो आंखें 12 हाथ, जागृति, अछूत, कन्या, बंदिनी जैसी फिल्मों ने आम जनमानस की सोच में बदलाव का काम किया। फिर रोमेंटिक फिल्मों का दौर आया। व्यावसायिक, सार्थक,समानांतर,प्रयोगवादी सिनेमा की लहर के साथ सिनेमा रील और रियल के मध्य दूरी को कम कर रहा था,तो दूसरी तरफ वी शांताराम, के. आसिफ, मेहबूब खान, विमल रॉय, अबरार अल्वी, चेतन आनंद, सत्यजीत रे, ऋत्विक घटक, मृणाल सेन, श्याम बेनेगल, मणि कौल, गोविन्द समाज संस्कृति कला निहलानी, गौतम घोष मणिरत्नम जैसे राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त निर्देशकों का योगदान भी कभी भुलाया नहीं जा सकता। सातवें दशक में यकायक प्रकट हुए सार्थक सिनेमा आंदोलन का भागीरथ बनकर जो फिल्मकार सामने आया वह निश्चित रूप से श्याम बेनेगल थे। इन्होंने चलन से सर्वथा अलग हटकर सशक्त सिनेमा समाज को दिया। श्याम बेनेगल की परिपाटी को सशक्त करने में गोविंद निहलानी, केतन मेहता, सुधीर मिश्रा, प्रकाश झा, सईद अख्तर मिर्जा जैसे फिल्मकारों के श्रेष्ठ सर्जन ने अपनी अहम भूमिका निभाई। सशक्त और उद्वेलित कर देने वाला विषय, ज्वलंत और आंदोलित कर देने वाला यथार्थ जिस तरह से अपने समय की श्रेष्ठ फिल्मों के माध्यम से व्यक्त हुआ, उसने दर्शकों को आस्वाद को

भी परिवर्तित करने का काम किया। बहु-चर्चित निर्देशक श्याम बेनेगल ने अपनी पहली फ़िल्म 1974 में बनाई 'अंकुर'। यह अछूत औरत और ब्राह्मण आदमी के रिश्ते की कहानी पर आधारित थी। इस कहानी में सुधार के उपदेश या प्रचार के लिए शायद स्थान नहीं हो, लेकिन भारतीय समाज की जातिवादी जकड़न और ढोंग पर एक करारे व्यंग्य के कारण यह फ़िल्म अपना अलग प्रभाव छोड़ती हैं। 1981 में सत्यजीत रॉय ने 'सद्गति' के बाद 'शतरंज के खिलाड़ी' बनाई दोनों फ़िल्में प्रेमचंद की कहानी पर आधारित हैँ । प्रेमचंद की कहानी 'सद्गति' चमार जाति के दुखी नाम के एक व्यक्ति के जीवन पर केंद्रित है, जो ब्राह्मण के अत्याचार सहते सहते मर जाता है, लेकिन जातिवाद व ब्राह्मणवाद की कठोर गांठ को काट नहीं पाता। फ़िल्म बनाने के लिए प्रेमचंद की कहानियों का चयन करना कोई आसान रास्ता नहीं था, क्योंकि प्रेमचंद ने सामाजिक बुराइयों और विसंगतियों को अभिव्यक्त अवश्य किया, लेकिन वहाँ समाधान नजर नहीं आता। जबकि व्यवसायी फिल्मों के लिए आवश्यक है कि वहाँ समाधान हो, अंत हो। अनुदारता से लड़ाई और कुछ अलग दुनिया दिखाने की कोशिश सार्थक सिनेमा के माध्यम से सदैव की जाती रही है। अस्पर्श्यता के बारे में पहली फ़िल्म गाँधी जी के सुधार आंदोलनों से प्रेरित फ्रांज ऑस्टेन की 'अछूत कन्या' 1936 में बनाई गई। यह फ़िल्म प्रताप नाम के ब्राह्मण लड़के और कस्तूरी नाम की अछूत लड़की की एक दारुण प्रेम कहानी है। फ़िल्म के प्रस्तुतिकरण और पारंपरिक शैली की प्रवाह किए बिना अछूत कन्या एक साहसी फ़िल्म थी। 1959 में विमल राय ने 'सुजाता' बनाई। विमल राय फ्रॉन्ज ऑस्टन से आगे बढ़े और उन्होंने अछूत लड़की की ब्राह्मण लड़के से शादी को संभव बनाया। उस समय से लेकर आज तक भारत में बहुत सी मजबूत फ़िल्में बनी हैं और बहुत से निषेध भंग हुए हैं। सिनेमा की मुख्यधारा से अलग रहने वाला निर्देशक का तरीका कुछ अलग ही होता है, इसलिए वह अक्सर व्यावसायिक फ़िल्म के निर्देशक से ज्यादा आजाद होता है। आजाद निर्देशकों के लिए औरत की स्वतंत्रता, धर्म के क्षेत्र में लड़ाई या घूसखोरी दिखाने से भी अधिक चुनौतीपूर्ण है जाति की जकड़बंदी पर सवाल खड़े करना। अंग्रेजों से संघर्ष पर बनी फ़िल्म 'लगान' का भुवन हो या केतन मेहता की 'मंगल पांडे: द राइज़िंग' का मंगल दोनों अपनी तरह से समाज की विसंगतियो से लड़ने का प्रयास करते नजर आते हैं।

आशुतोष गोवरीकर की 'स्वदेश' में हम पश्चिमी दृष्टि से भारत को देख सकते हैं। यू एस ए में रहने वाला और नासा में काम करनेवाला मोहन जब भारत आता है तो एक पर्यटक की तरह व्यवहार करता है, लेकिन बिना किसी भाषणबाजी के मोहन रूढ़िवादी गांव में छोटे व बड़े के बीच की खाई को पाटने का प्रयास सफलता से करता है। चर्चित सामाजिक आलोचक प्रकाश झा ने 1985 में 'दामुल' बनाई जिसमें अमीर लोगों द्वारा गरीबों का शोषण दिखाया गया। 1994 में शेखर कपूर द्वारा बनाई गई 'बैंडिट क्वीन' में सिनेमा के इतिहास में पहली बार औरत के प्रति होने वाले क्रूरतम यौन अपराध को दिखाया गया। सार्थक सिनेमा आंदोलन के अगुआ रहे श्याम बेनेगल ने बाद में भी अपनी लीक, अपने तरीके से 'वेलकम टु सज्जनपुर' और 'वेलडन अब्बा' जैसा सिनेमा बनाकर अचंभित किया। 'चरणदास चोर', 'अर्थ', 'मंथन', 'निशांत', 'भूमिका', 'मंडी', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', '36 चौरंगी लेन', 'कलयुग', 'जुनून', 'त्रिकाल', 'उत्सव', 'विजेता', आदि फिल्मों के माध्यम से नसीरुद्दीन शाह ,ओम पुरी, शबाना आजमी, स्मिता पाटिल, अमरीश पुरी, शशि कपूर जैसे अभिनेताओं ने कभी न भुलाए जा सकने वाली भूमिका में अभिनय कर अमिट छाप छोड़ी है। श्याम बेनेगल की फ़िल्म बनाने की शुरुआत और सार्थक सिनेमा आंदोलन का प्रारंभ लगभग एक ही काल अवधि में घटित हुआ। श्याम बेनेगल स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं-"नसीरुद्दीन शाह, ओम पुरी, शबाना आज़मी, अमरीश पुरी, स्मिता पाटिल के साथ काम की शुरुआत की मैंने भी, उन्होंने भी। सबके सब अदम्य ऊर्जा और उत्साह से भरे कलाकार रहे हैं। इन सभी के लिए फ़िल्म एक गंभीर काम को अंजाम देने का महत्वपूर्ण आयाम रही है। कहानी ,परिवेश और किरदार में अपने आप को डुबो देने और बेहद सजीवता के साथ नजर आने की इनकी खासियत ने इन्हें तमाम दूसरे समकालीन कलाकारों से अलग रखा और जगह दी।"[1]

सार्थक,यथार्थवादी या कला सिनेमा कहलाने वाले सिनेमा ने समाज की विकृतियों व समस्याओं का यथार्थवादी चित्रण जीवन्त ढंग से किया है । हिंदी के अतिरिक्त अन्य अनेक भारतीय भाषाओं का सिनेमा भी अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम सिद्ध हुआ है। कितने ही सहायक कारणों के साथ कलाओं के विकास में व्यक्तिगत प्रतिभा का विशिष्ट योगदान रहता है। सहायक उपादानों में भारत के राष्ट्रीय फ़िल्म पुरस्कारों, अंतर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोह ,उच्च कोटि के फिल्मकारों की फिल्मों,फिल्म संस्थान तथा राष्ट्रीय फिल्मागार की स्थापना के योगदान से इनकार नहीं किया जा सकता। अमोल पालेकर, अपर्णा सेन, अदूर गोपालकृष्णन, जहानु बरुआ, गिरीश कर्नाड आदि ने मराठी बंगला, मलयालम, असमिया व कन्नड़ भाषाई सिनेमा के माध्यम से सिनेमा की गुणात्मकता को अपनी रचनात्मकता के सहारे सुरक्षित रखने का काम लगातार किया। क्षेत्रीय फिल्मकारों की फिल्मों ने मोटे मोटे तौर पर दो सत्यों की ओर हमारा ध्यान खींचा। पहला यह है कि अच्छी फ़िल्म बनाने के लिए अपनी जमीन से जुड़ाव, अपने प्रवेश की गहरी पहचान जरूरी है। फ़िल्म जिस जमीन से जुड़ी है, फिल्मकार जीस मिट्टी में पला और बढ़ा हुआ है, उसे वहीं की फ़िल्में बनानी चाहिए। दूसरी बात यह है कि फ़िल्म मनोरंजन मात्र नहीं करती, वह हमारे जीवन की कड़वी सच्चाइयों को भी उद्घाटित करती है। अदूर गोपालकृष्णन द्वारा बनायी गयी 'स्वयंवरम' और 'कोडियटटम' जैसी फ़िल्में न केवल भारत में सराही गयी, व पुरस्कृत हुईं बल्कि न्यूयॉर्क, वॉशिंगटन, लंदन, पेरिस, नांतेस, बर्लिन और म्यूनिख के अंतर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोह में भी दिखाई गई। इसके अतिरिक्त अदूर ने ऐलीपत्त्याम, मुखामुखाम, कथापुरुषन्, जैसी फिल्मों का निर्माण करके स्वयं को अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त फिल्मकार साबित

किया। इसी प्रकार गिरीशकासर वल्ली द्वारा बनाई गई उच्च कोटि की लगभग दर्जन भर फिल्मों में से ' घट श्रादध' व 'ताई सहेब' ने राष्ट्रीय फ़िल्म पुरस्कार में सर्वोत्तम फ़िल्म के पुरस्कार प्राप्त किये। अपर्णा सेन ने 'मिस्टर एंड मिसेज अय्यर' के माध्यम से हिंदू मुसलमान दंगों या '15 पार्क ऐवेन्यू' को माध्यम बनाकर मानसिक रोगी की दुविधाओं व व्यथा का अत्यंत भावपूर्ण चित्रण किया। हिंदी फ़िल्में बनाकर अपने रचनात्मक काम की शुरुआत करने वाले अमोल पालेकर ने बाद में मराठी भाषा में 'बनगरवाडी' और 'अनाहत' व 'थांग' जैसी चुनौतीपूर्ण फिल्मों का निर्माण कर एक साहसी फिल्मकार के रूप में स्वयं को स्थापित किया। ये फ़िल्म कार समझौता कर सकते थे और अपने लिए आसान रास्ता चुन सकते थे, लेकिन इन्होंने जीवन की चुनौतियों को पर्दे पर उतारने की कठिन राह चुनी और सार्थक सिनेमा या कला सिनेमा देने में सफल रहे। इस प्रकार के सिनेमा की सार्थकता यही है कि यह सवाल खड़े करता है, लोगों को जोड़ता है और जागरूक बनाता है। दूसरी ओर घिसी-पिटी फार्मूला युक्त फिल्मों का भी निर्माण किया जा रहा है ,जो मोटी कमाई भी करती हैँ लेकिन सिवाय सस्ते मनोरंजन के,इनसे अधिक की अपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि ये समाज के लिए किसी प्रकार की उपादेयता सिद्ध नहीं करती हैँ । आज भारतीय सिनेमा तेजी से बदल रहा है। हम सब पर्दे पर हर दौर में नए सिनेमा को देखते आए हैं। 'रंग दे बसंती' और 'लगे रहो मुन्ना भाई', 'सरकार', 'खोसला का घोंसला' जैसी फ़िल्में न तो मुंबईया फ़िल्में हैं न कला फ़िल्में। यहाँ तक कि इस तरह की फिल्मों को पूरी तरह समानांतर सिनेमा भी नहीं कहा जा सकता। इस नए सिनेमा को नवीन कुमार के शब्दों में 'ग्रे' सिनेमा कहा जा सकता है। मुंबइया सिनेमा इस तरह की फिल्मों की बदौलत आज ग्लोबल होता जा रहा है। मल्टीप्लेक्स की अपनी एक ऑडियंस पैदा होने का यह असर हुआ कि वह 'खोसला का घोंसला' जैसी एकदम यथार्थवादी मगर हास्यपरक फ़िल्म को भी पसंद करने लगी है। नए रूप में समानांतर सिनेमा ने फिर से जन्म लिया है। इस बदलाव की ओर संकेत करते हुए नवीन कुमार लिखते हैं-"बदलाव के नियम का पालन करते हुए मुंबइया सिनेमा भविष्य में कहाँ पहुंचेगा, अभी इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है, लेकिन यह तय है कि अब बेहतर फ़िल्में बनने का रास्ता खुल गया है। फॉर्मूला फ़िल्में अब इतिहास की चीज़ होने लगी हैँ ।"[2]

निष्कर्ष

सिनेमा की नित्य नई करवट लेती स्थिति पर ही डॉक्टर विजय शिंदे लिखते हैं-"वर्तमान में जो भारतीय सिनेमा के हालात हैं वह ज्यादा दिनों तक रहेंगे नहीं। इसका कारण यह है कि भारत में तेजी से समाज और दर्शक सजग हो रहा है। मनोरंजनात्मक मीठापन तत्काल आपकी मांग को पूरा करता है, परंतु उससे भी लंबे समय तक चलने वाली सामाजिक माँग क्लासिकता की है या हो सकता है बाजार वादिता के चलते जिन फ़िल्मों ने कलात्मक होकर भी व्यावसायिक सफलता पायी, ऐसी फ़िल्में बनाई जाएंगी अर्थात कलात्मकता और व्यावसायिकता के मिलाप से जो फ़िल्में बनेंगी, वह भारतीय सिनेमा में अपना योगदान दे सकती हैँ ।"[3]

विशेषज्ञों, शोधकर्ताओं व समीक्षकों की भविष्यवाणी सच होती दिखाई दे रही है। भारतीय सिनेमा अंतरराष्ट्रीय मंच पर अपनी पहचान स्थापित कर रहा है।कान फिल्मोत्सव में जाफर पनाहिने के 'टक्सी' (2015) का पुरस्कृत होना और ऑस्कर 2023 में 'द एलिफेंट विस्पर्स' का पुरस्कृत होना भारतीय सिनेमा की नई सोच और कलात्मक सृजन को प्रमाणित करता है।

ब्लैक एंड व्हाइट से रंगीन और फिर सिनेमास्कोप तक का सफर करने वाला आज का सिनेमा 70 एमएम की रील में कैद नहीं है। बड़े पर्दे से मल्टीप्लेक्स और अब ओटीटी तक सिनेमा की पहुंच ने सिनेमा को विस्तार दिया है। घर बैठे दर्शक मनचाही आवश्यकता अनुसार बड़ी, छोटी ,बहुत छोटी फ़िल्म को एक क्लिक पर सुविधाजनक तरीके से देख सकता है । कोरोना काल के समय वैकल्पिक व्यवस्था के रूप में अपनाए गए ओटीटी प्लेटफार्म अब सिनेमा जगत में नई क्रांति की तरह देखे जा रहे हैं। ठीक वैसे जैसे क्रिकेट की राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं के बीच आईपीएल। ज्यादा फ़िल्में, ज्यादा कलाकार, ज्यादा दर्शक और ज्यादा कमाई ओटीटी ने आईपीएल की तरह सिनेमा जगत में नए अवतार की तरह प्रवेश किया है। डिजिटल सिनेमा ने संभावनाओं के द्वार खोल दिए हैं। इससे थिएटर कल्चर पर अवश्य ही गंभीर संकट आया है, मगर सिनेमा बनाने वालों, उसमें काम करने वालों और दर्शकों के लिए दिशाएँ खुल गई हैँ।

अवाक से सवाक और रुपहले पर्दे से ओटीटी तक भारतीय सिनेमा ने समय से कदम मिला कर चल रहा है और बदल रहा है। सिनेमा सयाना अवश्य हुआ है बूढ़ा नहीं। नई सोच, नई पौध, नए प्रयोग और नई तकनीक सिनेमा को भविष्य में नए आसमान तक लेकर जाएगी, इसमें कोई संदेह नहीं है।और यह भी सौ प्रतिशत सच है कि " जो सिनेमा स्थानीयता की खुशबु के साथ आधुनिकता का तालमेल बना कर चल पाएगा,वही इस ग्लोबलाइजेशन एवं डिजिटल युग में लम्बे समय तक जिंदा रह पाएगा ।"[4]

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1.हंस,हिंदी सिनेमा के सौ साल,फरवरी 2013,सृजनात्मक जोखिम लेने वालों का था नई धारा सिनेमा,फिल्मकार श्याम बेनेगल ने संस्कृत कर्मी सुनील मिश्र से कहा ,पृष्ठ संख्या 112

2. कादम्बिनी, जून 2007, संपादक, मृणाल पांडे, लगे रहो बॉलीवुड वालो, नवीन कुमार, पृष्ठ संख्या 18

3. डॉ विजय शिंदे,भारतीय सिनेमा के इतिहास का सिंहावलोकन,resarch gate. net,vol lll, issue feb 2016, The south asian academic research chronicle,e journal

4.सीमा खड़कवाल,हिंदी सिनेमा का बदलता परिदृश्य और चुनौतियाँ : भविष्य का सिनेमा, International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS) 245

ISSN : 2581-9925, Impact Factor: 6.340, Volume 03, No. 01, January - March, 2021, pp.245-249,पृष्ठ संख्या 5

डॉ बबीता काजल , सह - आचार्य (हिंदी विभाग)

चौ बल्लूराम गोदारा राजकीय कन्या महाविद्यालय श्री गंगानगर - 335001

राजस्थान

मो- 9413615637

ईमेल- Kajalbabita088@gmail.com